

अध्याय सत्रह

श्रद्धा के विभाग

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; ये—जो; शास्त्र-विधिम्—शास्त्रों के विधान को;
उत्सृज्य—त्यागकर; यजन्ते—पूजा करते हैं; श्रद्धया—पूर्ण श्रद्धा से; अन्विताः—युक्त;
तेषाम्—उनकी; निष्ठा—श्रद्धा; तु—लेकिन; का—कौनसी; कृष्ण—हे कृष्ण;
सत्त्वम्—सतो गुणी; आहो—अथवा अन्य; रजः—रजोगुणी; तमः—तमोगुणी ।

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्र के नियमों का पालन न करके अपनी कल्पना के अनुसार पूजा करते हैं, उनकी स्थिति कौन सी है? वे सतो गुणी हैं, रजोगुणी हैं या तमोगुणी?

तात्पर्य

चतुर्थ अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में कहा गया है कि किसी विशेष प्रकार की पूजा में निष्ठावान् व्यक्ति क्रमशः ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और शान्ति तथा सम्पन्नता की सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचता है। सोलहवें अध्याय में यह निष्कर्ष निकलता है कि जो शास्त्रों के नियमों का पालन नहीं करता, वह असुर है और जो निष्ठापूर्वक इन नियमों का पालन करता है, वह देव है। अब यदि कोई ऐसा निष्ठावान व्यक्ति हो,

जो ऐसे कतिपय नियमों का पालन करता हो, जिनका शास्त्रों में उल्लेख न हो, तो उसकी स्थिति क्या होगी? अर्जुन के इस सन्देह का स्पष्टीकरण कृष्ण द्वारा होना है। क्या वे लोग जो किसी व्यक्ति को चुनकर उस पर किसी भगवान् के रूप में श्रद्धा दिखाते हैं, सतो, रजो या तमोगुण में पूजा करते हैं? क्या ऐसे व्यक्तियों को जीवन की सिद्धावस्था प्राप्त हो पाती है? क्या वे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उच्चतम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो पाते हैं? जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन नहीं करते, किन्तु जिनकी किसी पर श्रद्धा होती है और जो देवी, देवताओं तथा मनुष्यों की पूजा करते हैं, क्या उन्हें सफलता प्राप्त होती है? अर्जुन इन प्रश्नों को श्रीकृष्ण से पूछ रहा है।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; त्रि-विधा—तीन प्रकार की; भवति—होती है; श्रद्धा—श्रद्धा; देहिनाम्—देहधारियों की; सा—वह; स्व-भाव-जा—प्रकृति के गुण के अनुसार; सात्त्विकी—सतोगुणी; राजसी—रजोगुणी; च—भी; एव—निश्चय ही; तामसी—तमोगुणी; च—तथा; इति—इस प्रकार; ताम्—उसको; शृणु—मुझसे सुनो।

भगवान् ने कहा—देहधारी जीव द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार उसकी श्रद्धा तीन प्रकार की हो सकती है—सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी। अब इसके विषय में मुझसे सुनो।

तात्पर्य

जो लोग शास्त्रों के विधि-विधानों को जानते हैं, लेकिन आलस्य या कार्यविमुखतावश इनका पालन नहीं करते, वे प्रकृति के गुणों द्वारा शासित होते हैं। वे अपने सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी पूर्वकर्मों के अनुसार एक विशेष प्रकार का स्वभाव प्राप्त करते हैं। विभिन्न गुणों के साथ जीव की संगति शाश्वत चलती रही है। चूँकि जीव प्रकृति के संसर्ग में रहता है, अतएव वह प्रकृति के गुणों के अनुसार ही विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ

अर्जित करता है। लेकिन यदि कोई प्रामाणिक गुरु की संगति करता है और उसके तथा शास्त्रों के विधि-विधानों का पालन करता है, तो उसकी यह मनोवृत्ति बदल सकती है। वह क्रमशः अपनी स्थिति तमोगुण से सतोगुण या रजोगुण से सतोगुण में परिवर्तित कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के किसी गुण विशेष में अंधविश्वास करने से ही व्यक्ति सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की संगति में रहकर बुद्धिपूर्वक बातों पर विचार करना होता है। तभी वह उच्चतर गुण की स्थिति को प्राप्त हो सकता है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-अनुरूपा—अस्तित्व के अनुसार; सर्वस्य—सबों की; श्रद्धा—श्रद्धा, निष्ठा; भवति—हो जाती है; भारत—हे भरतपुत्र; श्रद्धा—श्रद्धा; मयः—से युक्त; अयम्—यह; पुरुषः—जीवात्मा; यः—जो; यत्—जिसके होने से; श्रद्धः—श्रद्धा; सः—इस प्रकार; एव—निश्चय ही; सः—वह।

हे भरतपुत्र! विभिन्न गुणों के अन्तर्गत अपने अपने अस्तित्व के अनुसार मनुष्य एक विशेष प्रकार की श्रद्धा विकसित करता है। अपने द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार ही जीव को विशेष श्रद्धा से युक्त कहा जाता है।

तात्पर्य

प्रत्येक व्यक्ति में चाहे वह जैसा भी हो, एक विशेष प्रकार की श्रद्धा पाई जाती है। लेकिन उसके द्वारा अर्जित स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा उत्तम (सतोगुणी), राजस (रजोगुणी) अथवा तामसी कहलाती है। इस प्रकार अपनी विशेष प्रकार की श्रद्धा के अनुसार ही वह कतिपय लोगों से संगति करता है। अब वास्तविक तथ्य तो यह है कि, जैसा पंद्रहवें अध्याय में कहा गया है, प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतएव वह मूलतः इन समस्त गुणों से परे होता है। लेकिन जब वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और बद्ध जीवन में भौतिक प्रकृति के संसर्ग में

आता है, तो वह विभिन्न प्रकार की प्रकृति के साथ संगति करके अपना स्थान बनाता है। इस प्रकार से प्राप्त कृत्रिम श्रद्धा तथा अस्तित्व मात्र भौतिक होते हैं। भले ही कोई किसी धारणा या देहात्मबोध द्वारा प्रेरित हो, लेकिन मूलतः वह निर्गुण या दिव्य होता है। अतएव भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध फिर से प्राप्त करने के लिए उसे भौतिक कल्मष से शुद्ध होना पड़ता है। यही एकमात्र मार्ग है, निर्भय होकर कृष्णभावनामृत में लौटने का। यदि कोई कृष्णभावनामृत में स्थित हो, तो उसका सिद्धि प्राप्त करने के लिए वह मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यदि वह आत्म-साक्षात्कार के इस पथ को ग्रहण नहीं करता, तो वह निश्चित रूप से प्रकृति के गुणों के साथ बह जाता है।

इस श्लोक में श्रद्धा शब्द अत्यन्त सार्थक है। श्रद्धा मूलतः सतोगुण से उत्पन्न होती है। मनुष्य की श्रद्धा किसी देवता, किसी कृत्रिम ईश्वर या मनोधर्म में हो सकती है लेकिन प्रबल श्रद्धा सात्त्विक कार्यों से उत्पन्न होती है। किन्तु भौतिक बद्धजीवन में कोई भी कार्य पूर्णतया शुद्ध नहीं होता। वे सब मिश्रित होते हैं। वे शुद्ध सात्त्विक नहीं होते। शुद्ध सत्त्व दिव्य होता है, शुद्ध सत्त्व में रहकर मनुष्य भगवान् के वास्तविक स्वभाव को समझ सकता है। जब तक श्रद्धा पूर्णतया सात्त्विक नहीं होती, तब तक वह प्रकृति के किसी भी गुण से दूषित हो सकती है। प्रकृति के दूषित गुण हृदय तक फैल जाते हैं, अतएव किसी विशेष गुण के सम्पर्क में रहकर हृदय जिस स्थिति में होता है, उसी के अनुसार श्रद्धा स्थापित होती है। यह समझना चाहिए कि यदि किसी का हृदय सतोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा भी सतोगुणी है। यदि हृदय रजोगुण में स्थित है, तो उसकी श्रद्धा रजोगुणी है और यदि हृदय तमोगुण में स्थित है तो उसकी श्रद्धा तमोगुणी होती है। इस प्रकार हमें संसार में विभिन्न प्रकार की श्रद्धाएँ मिलती हैं और विभिन्न प्रकार की श्रद्धाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के धर्म होते हैं। धार्मिक श्रद्धा का असली सिद्धान्त सतोगुण में स्थित होता है। लेकिन चूँकि हृदय कलुषित रहता है, अतएव विभिन्न प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त पाये जाते हैं। श्रद्धा की विभिन्नता के कारण ही पूजा भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यजन्ते—पूजते हैं; सात्त्विकाः—सतोगुण में स्थित लोग; देवान्—देवताओं को; यक्ष-
रक्षांसि—असुरगण को; राजसाः—रजोगुण में स्थित लोग; प्रेतान्—मृतकों की
आत्माओं को; भूत-गणान्—भूतों को; च—तथा; अन्ये—अन्य; यजन्ते—पूजते हैं;
तामसाः—तमोगुण में स्थित; जनाः—लोग ।

सतोगुणी व्यक्ति देवताओं को पूजते हैं, रजोगुणी यक्षों व
राक्षसों की पूजा करते हैं और तमोगुणी व्यक्ति भूत-प्रेतों को
पूजते हैं ।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् विभिन्न बाह्य कर्मों के अनुसार पूजा करने
वालों के प्रकार बता रहे हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार केवल भगवान् ही
पूजनीय हैं। लेकिन जो शास्त्रों के आदेशों से अभिज्ञ नहीं, या उन पर श्रद्धा
नहीं रखते, वे अपनी गुण-स्थिति के अनुसार विभिन्न वस्तुओं की पूजा
करते हैं। जो लोग सतोगुणी हैं, वे सामान्यतया देवताओं की पूजा करते हैं।
इन देवताओं में ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता, यथा इन्द्र, चन्द्र तथा सूर्य
सम्मिलित हैं। देवता कई हैं। सतोगुणी लोग किसी विशेष अभिप्राय से
किसी विशेष देवता की पूजा करते हैं। इसी प्रकार जो रजोगुणी हैं, वे
यक्ष-राक्षसों की पूजा करते हैं। हमें स्मरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के
समय कलकत्ता का एक व्यक्ति हिटलर की पूजा करता था, क्योंकि, भला
हो उस युद्ध का, उसने उसमें काले धन्धे से प्रचुर धन संचित कर लिया
था। इसी प्रकार जो रजोगुणी तथा तमोगुणी होते हैं, वे सामान्यतया किसी
प्रबल मनुष्य को ईश्वर के रूप में चुन लेते हैं। वे सोचते हैं कि कोई भी
व्यक्ति ईश्वर की तरह पूजा जा सकता है और फल एकसा होगा।

यहाँ पर इसका स्पष्ट वर्णन है कि रजोगुणी लोग ऐसे देवताओं की
सृष्टि करके उन्हें पूजते हैं और जो तमोगुणी हैं—अंधकार में हैं—वे प्रेतों
की पूजा करते हैं। कभी-कभी लोग किसी मृत प्राणी की कब्र पर पूजा
करते हैं। मैथुन सेवा भी तमोगुणी मानी जाती है। इसी प्रकार भारत के
सुदूर ग्रामों में भूतों की पूजा करने वाले हैं। हमने देखा है कि भारत के

निम्नजाति के लोग कभी-कभी जंगल में जाते हैं और यदि उन्हें इसका पता चलता है कि कोई भूत किसी वृक्ष पर रहता है, तो वे उस वृक्ष की पूजा करते हैं और बलि चढ़ाते हैं। ये पूजा के विभिन्न प्रकार वास्तव में ईश्वर-पूजा नहीं हैं। ईश्वरपूजा तो सात्त्विक पुरुषों के लिए है। श्रीमद्भागवत में (४.३.२३) कहा गया है—*सत्त्वं विशुद्धं वासुदेव-शब्दितम्*—जब व्यक्ति सतोगुणी होता है, तो वह वासुदेव की पूजा करता है। तात्पर्य यह है कि जो लोग गुणों से पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और दिव्य पद को प्राप्त हैं, वे ही भगवान् की पूजा कर सकते हैं।

निर्विशेषवादी सतोगुण में स्थित माने जाते हैं और वे पंचदेवताओं की पूजा करते हैं। वे भौतिक जगत में निराकार विष्णु को पूजते हैं, जो सिद्धान्तीकृत विष्णु कहलाता है। विष्णु भगवान् के विस्तार हैं, लेकिन निर्विशेषवादी अन्ततः भगवान् में विश्वास न करने के कारण सोचते हैं कि विष्णु का स्वरूप निराकार ब्रह्म का दूसरा पक्ष है। इसी प्रकार वे यह मानते हैं कि ब्रह्माजी रजोगुण के निराकार रूप हैं। अतः वे कभी-कभी पाँच देवताओं का वर्णन करते हैं, जो पूज्य हैं। लेकिन चूँकि वे लोग निराकार ब्रह्म को ही वास्तविक सत्य मानते हैं, इसलिए वे अन्ततः समस्त पूज्य वस्तुओं को त्याग देते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रकृति के विभिन्न गुणों को दिव्य प्रकृति वाले व्यक्तियों की संगति से शुद्ध किया जा सकता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अशास्त्र—जो शास्त्रों में नहीं है; विहितम्—निर्देशित; घोरम्—अन्यों के लिए हानिप्रद; तप्यन्ते—तप करते हैं; ये—जो लोग; तपः—तपस्या; जनाः—लोग; दम्भ—घमण्ड; अहङ्कार—तथा अहंकार से; संयुक्ताः—प्रवृत्त; काम—काम; राग—तथा आसक्ति का; बल—बलपूर्वक; अन्विताः—प्रेरित; कर्षयन्तः—कष्ट देते हुए; शरीर-स्थम्—शरीर के भीतर स्थित; भूत-ग्रामम्—भौतिक तत्त्वों का संयोग; अचेतसः—भ्रमित मनोवृत्ति

वाले; माम्—मुझको; च—भी; एव—निश्चय ही; अन्तः—भीतर; शरीर-स्थम्—शरीर में स्थित; तान्—उनको; विद्धि—जानो; आसुर-निश्चयान्—असुर।

जो लोग दम्भ तथा अहंकार से अभिभूत होकर शास्त्रविरुद्ध कठोर तपस्या और व्रत करते हैं, जो काम तथा आसक्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जो मूर्ख हैं तथा जो शरीर के भौतिक तत्त्वों को तथा शरीर के भीतर स्थित परमात्मा को कष्ट पहुँचाते हैं, वे असुर कहे जाते हैं।

तात्पर्य

कुछ पुरुष ऐसे हैं जो ऐसी तपस्या की विधियों का निर्माण कर लेते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी स्वार्थ के प्रयोजन से, यथा राजनीतिक कारणों से उपवास करना शास्त्रों में वर्णित नहीं है। शास्त्रों में तो आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपवास करने की संस्तुति है, किसी राजनीतिक या सामाजिक उद्देश्य के लिए नहीं। *भगवद्गीता* के अनुसार जो लोग ऐसी तपस्याएँ करते हैं वे निश्चित रूप से आसुरी हैं। उनके कार्य शास्त्रविरुद्ध हैं और सामान्य जनता के हित में नहीं हैं। वास्तव में वे लोग गर्व, अहंकार, काम तथा भौतिक भोग के प्रति आसक्ति के कारण ऐसा करते हैं। ऐसे कार्यों से न केवल शरीर के उन तत्त्वों को विक्षोभ होता है जिनसे शरीर बना है, अपितु शरीर के भीतर निवास कर रहे परमात्मा को भी कष्ट पहुँचता है। ऐसे अवैध उपवास से या किसी राजनीतिक उद्देश्य से की गई तपस्या आदि से निश्चय ही अन्य लोगों की शान्ति भंग होती है। उनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है। आसुरी व्यक्ति सोचता है कि इस विधि से वह अपने शत्रु या विपक्षियों को अपनी इच्छा पूरी करने के लिए बाध्य कर सकता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे उपवास से व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती है। ये कार्य भगवान् द्वारा अनुमत नहीं हैं, वे कहते हैं कि जो इन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, वे असुर हैं। ऐसे प्रदर्शन भगवान् के अपमानस्वरूप हैं, क्योंकि इन्हें वैदिक शास्त्रों के आदेशों का उल्लंघन करके किया जाता है। इस प्रसंग में *अचेतसः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सामान्य मानसिक स्थिति वाले पुरुषों को शास्त्रों के आदेशों का पालन करना चाहिए। जो ऐसी स्थिति में नहीं हैं वे शास्त्रों की उपेक्षा

तथा अवज्ञा करते हैं और तपस्या की अपनी विधि निर्मित कर लेते हैं। मनुष्य को सदैव आसुरी लोगों की चरम परिणति को स्मरण करना चाहिए, जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है। भगवान् ऐसे लोगों को आसुरी व्यक्तियों के यहाँ जन्म लेने के लिए बाध्य करते हैं। फलस्वरूप वे भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जाने बिना जन्मजन्मान्तर आसुरी जीवन में रहते हैं। किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति इतने भाग्यशाली हुए कि कोई गुरु उनका मार्गदर्शन करके उन्हें वैदिक ज्ञान के मार्ग पर ले जा सके, तो वे इस भवबन्धन से छूट कर अन्ततोगत्वा परमगति को प्राप्त होते हैं।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आहारः— भोजन; तु—निश्चय ही; अपि—भी; सर्वस्य—हर एक का; त्रि-विधः—तीन प्रकार का; भवति—होता है; प्रियः—प्यारा; यज्ञः—यज्ञ; तपः—तपस्या; तथा—और; दानम्—दान; तेषाम्—उनका; भेदम्—अन्तर; इमम्—यह; शृणु—सुनो।

यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति जो भोजन पसन्द करता है, वह भी प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का होता है। यही बात यज्ञ, तपस्या तथा दान के लिए भी सत्य है। अब उनके भेदों के विषय में सुनो।

तात्पर्य

प्रकृति के भिन्न-भिन्न गुणों के अनुसार भोजन, यज्ञ, तपस्या और दान में भेद होते हैं। वे सब एक से नहीं होते। जो लोग यह समझ सकते हैं कि किस गुण में क्या क्या करना चाहिए, वे वास्तव में बुद्धिमान हैं। जो लोग सभी प्रकार के यज्ञ, भोजन या दान को एकसा मान कर उनमें अन्तर नहीं कर पाते, वे अज्ञानी हैं। ऐसे भी प्रचारक लोग हैं, जो यह कहते हैं कि मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है और सिद्धि प्राप्त कर सकता है। लेकिन ये मूर्ख मार्गदर्शक शास्त्रों के आदेशानुसार कार्य नहीं करते। ये अपनी विधियाँ बनाते हैं और सामान्य जनता को भ्रान्त करते रहते हैं।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आयुः—जीवन काल; सत्त्व—अस्तित्व; बल—बल; आरोग्य—स्वास्थ्य; सुख—सुख; प्रीति—तथा संतोष; विवर्धनाः—बढ़ाते हुए; रस्याः—रस से युक्त; स्निग्धाः—चिकना; स्थिराः—सहिष्णु; हृद्याः—हृदय को भाने वाले; आहाराः—भोजन; सात्त्विक—सतोगुणी; प्रियाः—अच्छे लगने वाले ।

जो भोजन सात्त्विक व्यक्तियों को प्रिय होता है, वह आयु बढ़ाने वाला, जीवन को शुद्ध करने वाला तथा बल, स्वास्थ्य, सुख तथा तृप्ति प्रदान करने वाला होता है। ऐसा भोजन रसमय, स्निग्ध, स्वास्थ्यप्रद तथा हृदय को भाने वाला होता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कटु—कड़ुवे, तीते; अम्ल—खट्टे; लवण—नमकीन; अति-उष्ण—अत्यन्त गरम; तीक्ष्ण—चटपटे; रूक्ष—शुष्क; विदाहिनः—जलाने वाले; आहाराः—भोजन; राजसस्य—रजोगुणी के; इष्टाः—रुचिकर; दुःख—दुःख; शोक—शोक; आमय—रोग; प्रदाः—उत्पन्न करने वाले ।

अत्यधिक तिक्त, खट्टे, नमकीन, गरम, चटपटे, शुष्क तथा जलन उत्पन्न करने वाले भोजन रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय होते हैं। ऐसे भोजन दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यात-यामम्—भोजन करने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया; गत-रसम्—स्वादरहित; पूति—दुर्गन्धयुक्त; पर्युषितम्—बिगड़ा हुआ; च—भी; यत्—जो; उच्छिष्टम्—अन्यों

का जूठन; अपि—भी; च—तथा; अमेध्यम्—अस्पृश्य; भोजनम्—भोजन; तामस—
तमोगुणी को; प्रियम्—प्रिय।

खाने से तीन घंटे पूर्व पकाया गया, स्वादहीन, वियोजित एवं सड़ा, जूठा तथा अस्पृश्य वस्तुओं से युक्त भोजन उन लोगों को प्रिय होता है, जो तामसी होते हैं।

तात्पर्य

आहार (भोजन) का उद्देश्य आयु को बढ़ाना, मस्तिष्क को शुद्ध करना तथा शरीर को शक्ति पहुँचाना है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य है। प्राचीन काल में विद्वान पुरुष ऐसा भोजन चुनते थे, जो स्वास्थ्य तथा आयु को बढ़ाने वाला हो, यथा दूध के व्यंजन, चीनी, चावल, गेहूँ, फल तथा तरकारियाँ। ये भोजन सतोगुणी व्यक्तियों को अत्यन्त प्रिय होते हैं। अन्य कुछ पदार्थ, जैसे भुना मक्का तथा गुड़ स्वयं रुचिकर न होते हुए भी दूध या अन्य पदार्थों के साथ मिलने पर स्वादिष्ट हो जाते हैं। तब वे सात्त्विक हो जाते हैं। ये सारे भोजन स्वभाव से ही शुद्ध हैं। ये मांस तथा मदिरा जैसे अस्पृश्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न हैं। आठवें श्लोक में जिन स्निग्ध (चिकने) पदार्थों का उल्लेख है, उनका पशु-वध से प्राप्त चर्बी से कोई नाता नहीं होता। यह पशु चर्बी (वसा) दुग्ध के रूप में उपलब्ध है, जो समस्त भोजनों में परम चमत्कारी है। दुग्ध, मक्खन, पनीर तथा अन्य पदार्थों से जो पशु चर्बी मिलती है, उससे निर्दोष पशुओं के मारे जाने का प्रश्न नहीं उठता। यह केवल पाशविक मनोवृत्ति है, जिसके कारण पशुवध चल रहा है। आवश्यक चर्बी प्राप्त करने की सुसंस्कृत विधि दूध से है। पशुवध तो अमानवीय है। मटर, दाल, दलिया आदि से प्रचुर मात्रा में प्रोटीन उपलब्ध होता है।

जो राजस भोजन कटु, बहुत लवणीय या अत्यधिक गर्म, चरपरा होता है, वह आमाशय की श्लेष्मा को घटा कर रोग उत्पन्न करता है। तामसी भोजन अनिवार्यतः बासी होता है। खाने से तीन घंटे पूर्व बना कोई भी भोजन (भगवान् को अर्पित प्रसादम् को छोड़कर) तामसी माना जाता है। बिगड़ने के कारण उससे दुर्गंध आती है, जिससे तामसी लोग प्रायः आकृष्ट होते हैं, किन्तु सात्त्विक पुरुष उससे मुख मोड़ लेते हैं।

उच्छिष्ट (जूठा) भोजन उसी अवस्था में किया जा सकता है, जब वह उस भोजन का एक अंश हो जो भगवान् को अर्पित किया जा चुका हो, या कोई साधुपुरुष, विशेष रूप से गुरु द्वारा, ग्रहण किया जा चुका हो। अन्यथा ऐसा जूठा भोजन तामसी होता है और वह संदूषण या रोग को बढ़ाने वाला होता है। यद्यपि ऐसा भोजन तामसी लोगों को स्वादिष्ट लगता है, लेकिन सतोगुणी उसे न तो छूना पसन्द करते हैं, न खाना। सर्वोत्तम भोजन तो भगवान् को समर्पित भोजन का उच्छिष्ट है। *भगवद्गीता* में परमेश्वर कहते हैं कि वे तरकारियाँ, आटे तथा दूध की बनी वस्तुएँ भक्तिपूर्वक भेंट किये जाने पर स्वीकार करते हैं। *पत्रं पुष्यं फलं तोयम्।* निस्सन्देह भक्ति तथा प्रेम ही प्रमुख वस्तुएँ हैं, जिन्हें भगवान् स्वीकार करते हैं। लेकिन इसका भी उल्लेख है कि प्रसादम् को एक विशेष विधि से बनाया जाय। कोई भी भोजन, जो शास्त्रीय ढंग से तैयार किया जाता है और भगवान् को अर्पित किया जाता है, ग्रहण किया जा सकता है, भले ही वह कितने ही घंटे पूर्व क्यों न तैयार हुआ हो, क्योंकि ऐसा भोजन दिव्य होता है। अतएव भोजन को रोगाणुरोधक, खाद्य तथा सभी मनुष्यों के लिए रुचिकर बनाने के लिए सर्वप्रथम भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अफल-आकाङ्क्षिभिः—फल की इच्छा से रहित; यज्ञः—यज्ञ; विधि-दिष्टः—शास्त्रों के निर्देशानुसार; यः—जो; इज्यते—सम्पन्न किया जाता है; यष्टव्यम्—सम्पन्न किया जाना चाहिए; एव—निश्चय ही; इति—इस प्रकार; मनः—मन में; समाधाय—स्थिर करके; सः—वह; सात्त्विकः—सतोगुणी।

यज्ञों में वही यज्ञ सात्त्विक होता है, जो शास्त्र के निर्देशानुसार कर्तव्य समझ कर उन लोगों के द्वारा किया जाता है, जो फल की इच्छा नहीं करते।

तात्पर्य

सामान्यतया यज्ञ किसी प्रयोजन से किया जाता है। लेकिन यहाँ पर बताया गया है कि यज्ञ बिना किसी इच्छा के सम्पन्न किया जाना चाहिए।

इसे कर्तव्य समझ कर किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, मन्दिरों या गिरजाघरों में मनाये जाने वाले अनुष्ठान सामान्यतया भौतिक लाभ को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं, लेकिन यह सतोगुण में नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह कर्तव्य मानकर मन्दिर या गिरजाघर में जाए, भगवान् को नमस्कार करे और फूल तथा प्रसाद चढ़ाए। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि केवल ईश्वर की पूजा करने के लिए मन्दिर जाना व्यर्थ है। लेकिन शास्त्रों में आर्थिक लाभ के लिए पूजा करने का आदेश नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि केवल अर्चाविग्रह को नमस्कार करने जाए। इससे मनुष्य सतोगुण को प्राप्त होगा। प्रत्येक सभ्य नागरिक का कर्तव्य है कि वह शास्त्रों के आदेशों का पालन करे और भगवान् को नमस्कार करे।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

अभिसन्धाय—इच्छा कर के; तु—लेकिन; फलम्—फल को; दम्भ—घमंड; अर्थम्—के लिए; अपि—भी; च—तथा; एव—निश्चय ही; यत्—जो; इज्यते—किया जाता है; भरत-श्रेष्ठ—हे भरतवंशियों में प्रमुख; तम्—उस; यज्ञम्—यज्ञ को; विद्धि—जानो; राजसम्—रजोगुणी।

लेकिन हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ किसी भौतिक लाभ के लिए या गर्ववश किया जाता है, उसे तुम राजसी जानो।

तात्पर्य

कभी-कभी स्वर्गलोक पहुँचने या किसी भौतिक लाभ के लिए यज्ञ तथा अनुष्ठान किये जाते हैं। ऐसे यज्ञ या अनुष्ठान राजसी माने जाते हैं।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विधि-हीनम्—शास्त्रीय निर्देश के बिना; असृष्ट-अन्नम्—प्रसाद वितरण किये बिना; मन्त्र-हीनम्—वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये बिना; अदक्षिणम्—पुरोहितों को

दक्षिणा दिये बिना; श्रद्धा—श्रद्धा; विरहितम्—विहीन; यज्ञम्—यज्ञ को; तामसम्—तामसी; परिचक्षते—माना जाता है।

जो यज्ञ शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके, प्रसाद वितरण किये बिना, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किये बिना, पुरोहितों को दक्षिणा दिये बिना तथा श्रद्धा के बिना सम्पन्न किया जाता है, वह तामसी माना जाता है।

तात्पर्य

तमोगुण में श्रद्धा वास्तव में अश्रद्धा है। कभी-कभी लोग किसी देवता की पूजा धन अर्जित करने के लिए करते हैं और फिर वे इस धन को शास्त्र के निर्देशों की अवहेलना करके मनोरंजन में व्यय करते हैं। ऐसे धार्मिक अनुष्ठानों को सात्त्विक नहीं माना जाता। ये तामसी होते हैं। इनसे तामसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और मानव समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

देव—परमेश्वर; द्विज—ब्राह्मण; गुरु—गुरु; प्राज्ञ—तथा पूज्य व्यक्तियों की; पूजनम्—पूजा; शौचम्—पवित्रता; आर्जवम्—सरलता; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य; अहिंसा—अहिंसा; च—भी; शारीरम्—शरीर सम्बन्धी; तपः—तपस्या; उच्यते—कहा जाता है।

परमेश्वर, ब्राह्मणों, गुरु, माता-पिता जैसे गुरुजनों की पूजा करना तथा पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा ही शारीरिक तपस्या है।

तात्पर्य

यहाँ पर भगवान् तपस्या के भेद बताते हैं। सर्वप्रथम वे शारीरिक तपस्या का वर्णन करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर या देवों, योग्य ब्राह्मणों, गुरु तथा माता-पिता जैसे गुरुजनों या वैदिक ज्ञान में पारंगत व्यक्ति को प्रणाम करे या प्रणाम करना सीखे। इन सबका समुचित आदर करना चाहिए। उसे चाहिए कि आंतरिक तथा बाह्य रूप में अपने को शुद्ध करने का अभ्यास करे और आचरण में सरल बनना सीखे। वह कोई ऐसा कार्य न करे, जो शास्त्र-सम्मत न हो। वह वैवाहिक जीवन के अतिरिक्त

मैथुन में रत न हो, क्योंकि शास्त्रों में केवल विवाह में ही मैथुन की अनुमति है, अन्यथा नहीं। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। ये सब शारीरिक तपस्याएँ हैं।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अनुद्वेग-करम्—क्षुब्ध न करने वाले; वाक्यम्—शब्द; सत्यम्—सच्चे; प्रिय—प्रिय; हितम्—लाभप्रद; च—भी; यत्—जो; स्वाध्याय—वैदिक अध्ययन का; अभ्यसनम्—अभ्यास; च—भी; एव—निश्चय ही; वाक्-मयम्—वाणी की; तपः—तपस्या; उच्यते—कही जाती है।

सच्चे, भाने वाले, हितकर तथा अन्यो को क्षुब्ध न करने वाले वाक्य बोलना और वैदिक साहित्य का नियमित पारायण करना—यही वाणी की तपस्या है।

तात्पर्य

मनुष्य को ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि दूसरों के मन क्षुब्ध हो जाएँ। निस्सन्देह जब शिक्षक बोले तो वह अपने विद्यार्थियों को उपदेश देने के लिए सत्य बोल सकता है, लेकिन उसी शिक्षक को चाहिए कि यदि वह उनसे बोले जो उसके विद्यार्थी नहीं हैं, तो उनके मन को क्षुब्ध करने वाला सत्य न बोले। यही वाणी की तपस्या है। इसके अतिरिक्त प्रलाप (व्यर्थ की वार्ता) नहीं करना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्रों में बोलने की विधि यह है कि जो भी कहा जाय वह शास्त्र-सम्मत हो। उसे तुरन्त ही अपने कथन की पुष्टि के लिए शास्त्रों का प्रमाण देना चाहिए। इसके साथ-साथ वह बात सुनने में अति प्रिय लगनी चाहिए। ऐसी विवेचना से मनुष्य को सर्वोच्च लाभ और मानव समाज का उत्थान हो सकता है। वैदिक साहित्य का विपुल भण्डार है और इसका अध्ययन किया जाना चाहिए। यही वाणी की तपस्या कही जाती है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मनः-प्रसादः—मन की तुष्टि; सौम्यत्वम्—अन्यों के प्रति कपट भाव से रहित; मौनम्—गम्भीरता; आत्म—अपना; विनिग्रहः—नियन्त्रण, संयम; भाव—स्वभाव का; संशुद्धिः—शुद्धीकरण; इति—इस प्रकार; एतत्—यह; तपः—तपस्या; मानसम्—मन की; उच्यते—कही जाती है।

तथा संतोष, सरलता, गम्भीरता, आत्म-संयम एवं जीवन की शुद्धि—ये मन की तपस्याएँ हैं।

तात्पर्य

मन को संयमित बनाने का अर्थ है, उसे इन्द्रियतृप्ति से विलग करना। उसे इस तरह प्रशिक्षित किया जाना चाहिए जिससे वह सदैव परोपकार के विषय में सोचे। मन के लिए सर्वोत्तम प्रशिक्षण विचारों की श्रेष्ठता है। मनुष्य को कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होना चाहिए और इन्द्रियभोग से सदैव बचना चाहिए। अपने स्वभाव को शुद्ध बनाना कृष्णभावनाभावित होना है। इन्द्रियभोग के विचारों से मन को अलग रख करके ही मन की तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। हम इन्द्रियभोग के बारे में जितना सोचते हैं, उतना ही मन अतृप्त होता जाता है। इस वर्तमान युग में हम मन को व्यर्थ ही अनेक प्रकार के इन्द्रियतृप्ति के साधनों में लगाये रखते हैं, जिससे मन संतुष्ट नहीं हो पाता। अतएव सर्वश्रेष्ठ विधि यही है कि मन को वैदिक साहित्य की ओर मोड़ा जाय, क्योंकि यह संतोष प्रदान करने वाली कहानियों से भरा है—यथा पुराण तथा महाभारत। कोई भी इस ज्ञान का लाभ उठा कर शुद्ध हो सकता है। मन को छल-कपट से मुक्त होना चाहिए और मनुष्य को सबके कल्याण (हित) के विषय में सोचना चाहिए। मौन (गम्भीरता) का अर्थ है कि मनुष्य निरन्तर आत्मसाक्षात्कार के विषय में सोचता रहे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति पूर्ण मौन इस दृष्टि से धारण किये रहता है। *मन-निग्रह* का अर्थ है—मन को इन्द्रियभोग से पृथक् करना। मनुष्य को अपने व्यवहार में निष्कपट होना चाहिए और इस तरह उसे अपने जीवन (भाव) को शुद्ध बनाना चाहिए। ये सब गुण मन की तपस्या के अन्तर्गत आते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धया—श्रद्धा समेत; परया—दिव्य; तप्तम्—किया गया; तपः—तप; तत्—वह;
त्रि-विधम्—तीन प्रकार के; नरैः—मनुष्यों द्वारा; अफल-आकाङ्क्षिभिः—फल की
इच्छा न करने वाले; युक्तैः—प्रवृत्त; सात्त्विकम्—सतोगुण में; परिचक्षते—कहा जाता
है।

भौतिक लाभ की इच्छा न करने वाले तथा केवल परमेश्वर में प्रवृत्त मनुष्यों द्वारा दिव्य श्रद्धा से सम्पन्न यह तीन प्रकार की तपस्या सात्त्विक तपस्या कहलाती है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमधुवम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्-कार—आदर; मान—सम्मान; पूजा—तथा पूजा; अर्थम्—के लिए; तपः—
तपस्या; दम्भेन—घमंड से; च—भी; एव—निश्चय ही; यत्—जो; क्रियते—किया
जाता है; तत्—वह; इह—इस संसार में; प्रोक्तम्—कहा जाता है; राजसम्—रजोगुणी;
चलम्—चलायमान; अधुवम्—क्षणिक।

जो तपस्या दंभपूर्वक तथा सम्मान, सत्कार एवं पूजा कराने के लिए सम्पन्न की जाती है, वह राजसी (रजोगुणी) कहलाती है। यह न तो स्थायी होती है न शाश्वत।

तात्पर्य

कभी-कभी तपस्या इसलिए की जाती है कि लोग आकर्षित हों तथा उनसे सत्कार, सम्मान तथा पूजा मिल सके। रजोगुणी लोग अपने अधीनस्थों से पूजा करवाते हैं और उनसे चरण धुलवाकर धन चढ़वाते हैं। तपस्या करने के बहाने ऐसे कृत्रिम आयोजन राजसी माने जाते हैं। इनके फल क्षणिक होते हैं, वे कुछ समय तक रहते हैं। वे कभी स्थायी नहीं होते।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मूढ—मूर्ख; ग्राहेण—प्रयत्न से; आत्मनः—अपने ही; यत्—जो; पीडया—उत्पीड़न द्वारा; क्रियते—की जाती है; तपः—तपस्या; परस्य—अन्यों को; उत्सादन-अर्थम्—विनाश करने के लिए; वा—अथवा; तत्—वह; तामसम्—तमोगुणी; उदाहृतम्—कही जाती है।

मूर्खतावश आत्म-उत्पीड़न के लिए या अन्यों को विनष्ट करने या हानि पहुँचाने के लिए जो तपस्या की जाती है, वह तामसी कहलाती है।

तात्पर्य

मूर्खतापूर्ण तपस्या के ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जैसे कि हिरण्यकशिपु जैसे असुरों ने अमर बनने तथा देवताओं का वध करने के लिए कठिन तप किए। उसने ब्रह्मा से ऐसी ही वस्तुएँ माँगी थीं, लेकिन अन्त में वह भगवान् द्वारा मारा गया। किसी असम्भव वस्तु के लिए तपस्या करना निश्चय ही तामसी तपस्या है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दातव्यम्—देने योग्य; इति—इस प्रकार; यत्—जो; दानम्—दान; दीयते—दिया जाता है; अनुपकारिणे—प्रत्युपकार की भावना के बिना; देशे—उचित स्थान में; काले—उचित समय में; च—भी; पात्रे—उपयुक्त व्यक्ति को; च—तथा; तत्—वह; दानम्—दान; सात्त्विकम्—सतोगुणी, सात्त्विक; स्मृतम्—माना जाता है।

जो दान कर्तव्य समझकर, किसी प्रत्युपकार की आशा के बिना, समुचित काल तथा स्थान में और योग्य व्यक्ति को दिया जाता है, वह सात्त्विक माना जाता है।

तात्पर्य

वैदिक साहित्य में ऐसे व्यक्ति को दान देने की संस्तुति है, जो आध्यात्मिक कार्यों में लगा हो। अविचारपूर्ण ढंग से दान देने की संस्तुति

नहीं है। आध्यात्मिक सिद्धि को सदैव ध्यान में रखा जाता है। अतएव किसी तीर्थ स्थान में, सूर्य या चन्द्रग्रहण के समय, मासान्त में या योग्य ब्राह्मण अथवा वैष्णव (भक्त) को, या मन्दिर में दान देने की संस्तुति है। बदले में किसी प्रकार की प्राप्ति की अभिलाषा न रखते हुए ऐसे दान किये जाने चाहिए। कभी-कभी निर्धन को दान करुणावश दिया जाता है। लेकिन यदि निर्धन दान देने योग्य (पात्र) नहीं होता, तो उससे आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। दूसरे शब्दों में, वैदिक साहित्य में अविचारपूर्ण दान की संस्तुति नहीं है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तु—लेकिन; प्रति-उपकार-अर्थम्—बदले में पाने के उद्देश्य से; फलम्—फल को; उद्दिश्य—इच्छा करके; वा—अथवा; पुनः—फिर; दीयते—दिया जाता है; च—भी; परिक्लिष्टम्—पश्चात्ताप के साथ; तत्—उस; दानम्—दान को; राजसम्—रजोगुणी; स्मृतम्—माना जाता है।

किन्तु जो दान प्रत्युपकार की भावना से या कर्म फल की इच्छा से या अनिच्छापूर्वक किया जाता है, वह रजोगुणी (राजस) कहलाता है।

तात्पर्य

दान कभी स्वर्ग जाने के लिए दिया जाता है, तो कभी अत्यन्त कष्ट से तथा कभी इस पश्चात्ताप के साथ कि “मैंने इतना व्यय इस तरह क्यों किया?” कभी-कभी अपने वरिष्ठजनों के दबाव में आकर भी दान दिया जाता है। ऐसे दान रजोगुण में दिये गये माने जाते हैं।

ऐसे अनेक दातव्य न्यास हैं, जो उन संस्थाओं को दान देते हैं, जहाँ इन्द्रियभोग का बाजार गर्म रहता है। वैदिक शास्त्र ऐसे दान की संस्तुति नहीं करते। केवल सात्त्विक दान की संस्तुति की गई है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अदेश—अशुद्ध स्थान; काले—तथा अशुद्ध समय में; यत्—जो; दानम्—दान;
अपात्रेभ्यः—अयोग्य व्यक्तियों को; च—भी; दीयते—दिया जाता है; असत्-कृतम्—
सम्मान के बिना; अवज्ञातम्—समुचित ध्यान दिये बिना; तत्—वह; तामसम्—
तमोगुणी; उदाहृतम्—कहा जाता है ।

तथा जो दान किसी अपवित्र स्थान में, अनुचित समय में,
किसी अयोग्य व्यक्ति को या बिना समुचित ध्यान तथा आदर
से दिया जाता है, वह तामसी कहलाता है ।

तात्पर्य

यहाँ पर मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा में व्यसनी के लिए दान देने को
प्रोत्साहन नहीं दिया गया । ऐसा दान तामसी है । ऐसा दान लाभदायक नहीं
होता, वरन् इससे पापी पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता है । इसी प्रकार, यदि
बिना सम्मान तथा ध्यान दिये किसी उपयुक्त व्यक्ति को दान दिया जाय, तो
वह भी तामसी है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ॐ—परम का सूचक; तत्—वह; सत्—शाश्वत; इति—इस प्रकार; निर्देशः—संकेत;
ब्रह्मणः—ब्रह्म का; त्रि-विधः—तीन प्रकार का; स्मृतः—माना जाता है; ब्राह्मणाः—
ब्राह्मण लोग; तेन—उससे; वेदाः—वैदिक साहित्य; च—भी; यज्ञाः—यज्ञ; च—भी;
विहिताः—प्रयुक्त; पुरा—आदिकाल में ।

सृष्टि के आदिकाल से ॐ तत् सत् ये तीन शब्द परब्रह्म
को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे हैं । ये तीनों
सांकेतिक अभिव्यक्तियाँ ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रों का
उच्चारण करते समय तथा ब्रह्म को संतुष्ट करने के लिए यज्ञों
के समय प्रयुक्त होती थीं ।

तात्पर्य

यह बताया जा चुका है कि तपस्या, यज्ञ, दान तथा भोजन के तीन-तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजस तथा तामस। लेकिन चाहे ये उत्तम हों, मध्यम हों या निम्न हों, ये सभी बद्ध तथा भौतिक गुणों से कलुषित हैं। किन्तु जब ये ब्रह्म—ॐ तत् सत् को लक्ष्य करके किये जाते हैं तो आध्यात्मिक उन्नति के साधन बन जाते हैं। शास्त्रों में ऐसे लक्ष्य का संकेत हुआ है। ॐ तत् सत् ये तीन शब्द विशेष रूप में परम सत्य भगवान् के सूचक हैं। वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द सदैव रहता है।

जो व्यक्ति शास्त्रों के विधानों के अनुसार कर्म नहीं करता, उसे परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। भले ही उसे क्षणिक फल प्राप्त हो जाये, लेकिन उसे चरमगति प्राप्त नहीं हो पाती। तात्पर्य यह है कि दान, यज्ञ तथा तप को सतोगुण में रहकर करना चाहिए। रजो या तमोगुण में सम्पन्न करने पर ये निश्चित रूप से निम्न कोटि के होते हैं। ॐ तत् सत् शब्दों का उच्चारण परमेश्वर के पवित्र नाम के साथ किया जाता है, उदाहरणार्थ, ॐ तद्विष्णोः। जब भी किसी वैदिक मंत्र का या परमेश्वर का नाम लिया जाता है, तो उसके साथ ॐ जोड़ दिया जाता है। यह वैदिक साहित्य का सूचक है। ये तीन शब्द वैदिक मंत्रों से लिए जाते हैं। ॐ इत्येतद्ब्रह्मणो नेदिष्ठं नाम (ऋग्वेद) प्रथम लक्ष्य का सूचक है। फिर तत् त्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद ६.८.७) दूसरे लक्ष्य का सूचक है। तथा सद एव सौम्य (छान्दोग्य उपनिषद ६.२.१) तृतीय लक्ष्य का सूचक है। ये तीनों मिलकर ॐ तत् सत् हो जाते हैं। आदिकाल में जब प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने यज्ञ किये, तो उन्होंने इन तीनों शब्दों के द्वारा भगवान् को लक्षित किया था। अतएव गुरु-परम्परा द्वारा उसी सिद्धान्त का पालन किया जाता रहा है। अतः इस मन्त्र का अत्यधिक महत्त्व है। अतएव भगवद्गीता के अनुसार कोई भी कार्य ॐ तत् सत् के लिए, अर्थात् भगवान् के लिए, किया जाना चाहिए। जब कोई इन तीनों शब्दों के द्वारा तप, दान तथा यज्ञ सम्पन्न करता है, तो वह कृष्णभावनामृत में कार्य करता है। कृष्णभावनामृत दिव्य कार्यों का वैज्ञानिक कार्यान्वयन है, जिससे मनुष्य भगवद्धाम वापस जा सके। ऐसी दिव्य विधि से कर्म करने में शक्ति का क्षय नहीं होता।

तस्माद् ॐ इत्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; ॐ—ओम् से प्रारम्भ करके; इति—इस प्रकार; उदाहृत्य—संकेत करके; यज्ञ—यज्ञ; दान—दान; तपः—तथा तप की; क्रियाः—क्रियाएँ; प्रवर्तन्ते—प्रारम्भ होती हैं; विधान-उक्ताः—शास्त्रीय विधान के अनुसार; सततम्—सदैव; ब्रह्म-वादिनाम्—अध्यात्मवादियों या योगियों की ।

अतएव योगीजन ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ, दान तथा तप की समस्त क्रियाओं का शुभारम्भ सदैव ओम् से करते हैं ।

तात्पर्य

ॐ तद् विष्णोः परमं पदम् (ऋग्वेद १.२२.२०)। विष्णु के चरणकमल परम भक्ति के आश्रय हैं। भगवान् के लिए सम्पन्न हर एक क्रिया सारे कार्यक्षेत्र की सिद्धि निश्चित कर देती है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; इति—इस प्रकार; अनभिसन्धाय—बिना इच्छा किये; फलम्—फल; यज्ञ—यज्ञ; तपः—तथा तप की; क्रियाः—क्रियाएँ; दान—दान की; क्रियाः—क्रियाएँ; च—भी; विविधाः—विभिन्न; क्रियन्ते—की जाती हैं; मोक्ष-काङ्क्षिभिः—मोक्ष चाहने वालों के द्वारा ।

मनुष्य को चाहिए कि कर्मफल की इच्छा किये बिना विविध प्रकार के यज्ञ, तप तथा दान को 'तत्' शब्द कह कर सम्पन्न करे। ऐसी दिव्य क्रियाओं का उद्देश्य भव-बन्धन से मुक्त होना है।

तात्पर्य

आध्यात्मिक पद तक उठने के लिए मनुष्य को चाहिए कि किसी लाभ के निमित्त कर्म न करे। सारे कार्य भगवान् के परम धाम वापस जाने के उद्देश्य से किये जायँ, जो चरम उपलब्धि है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
 प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
 यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
 कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सत्-भावे—ब्रह्म के स्वभाव के अर्थ में; साधु-भावे—भक्त के स्वभाव के अर्थ में;
 च—भी; सत्—सत् शब्द; इति—इस प्रकार; एतत्—यह; प्रयुज्यते—प्रयुक्त किया
 जाता है; प्रशस्ते—प्रामाणिक; कर्मणि—कर्मों में; तथा—भी; सत्-शब्दः—सत् शब्द;
 पार्थ—हे पृथापुत्र; युज्यते—प्रयुक्त किया जाता है; यज्ञे—यज्ञ में; तपसि—तपस्या में;
 दाने—दान में; च—भी; स्थितिः—स्थिति; सत्—ब्रह्म; इति—इस प्रकार; च—तथा;
 उच्यते—उच्चारण किया जाता है; कर्म—कार्य; च—भी; एव—निश्चय ही; तत्—उस;
 अर्थीयम्—के लिए; सत्—ब्रह्म; इति—इस प्रकार; एव—निश्चय ही; अभिधीयते—
 कहा जाता है।

परम सत्य भक्तिमय यज्ञ का लक्ष्य है और उसे सत् शब्द
 से अभिहित किया जाता है। हे पृथापुत्र! ऐसे यज्ञ का
 सम्पन्नकर्ता भी 'सत्' कहलाता है जिस प्रकार यज्ञ, तप तथा
 दान के सारे कर्म भी जो परमपुरुष को प्रसन्न करने के लिए
 सम्पन्न किये जाते हैं, 'सत्' हैं।

तात्पर्य

प्रशस्ते कर्मणि अर्थात् "नियत कर्तव्य" सूचित करते हैं कि वैदिक
 साहित्य में ऐसी कई क्रियाएँ निर्धारित हैं, जो गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक
 संस्कार के रूप में हैं। ऐसे संस्कार जीव की चरम मुक्ति के लिए होते हैं।
 ऐसी सारी क्रियाओं के समय ॐ तत् सत् उच्चारण करने की संस्तुति की
 जाती है। सद्भाव तथा साधुभाव आध्यात्मिक स्थिति के सूचक हैं।
 कृष्णभावनामृत में कर्म करना सत् है और जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत के
 कार्यों के प्रति सचेष्ट रहता है, वह साधु कहलाता है। श्रीमद्भागवत में
 (३.२५.२५) कहा गया है कि भक्तों की संगति से आध्यात्मिक विषय
 स्पष्ट हो जाता है। इसके लिए सतां प्रसङ्गात् शब्द व्यवहृत हुए हैं। बिना
 सत्संग के दिव्य ज्ञान उपलब्ध नहीं हो पाता। किसी को दीक्षित करते समय

या यज्ञोपवीत धारण कराते समय ॐ तत् सत् शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार सभी प्रकार के यज्ञ करते समय ॐ तत् सत् या ब्रह्म ही चरम लक्ष्य होता है। तदर्थीयम् शब्द ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी भी कार्य में सेवा करने का सूचक है, जिसमें भगवान् के मन्दिर में भोजन पकाना तथा सहायता करने जैसी सेवाएँ या भगवान् के यश का प्रसार करने वाला अन्य कोई भी कार्य सम्मिलित है। इस तरह ॐ तत् सत् शब्द समस्त कार्यों को पूरा करने के लिए कई प्रकार से प्रयुक्त किये जाते हैं।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अश्रद्धया—श्रद्धारहित; हुतम्—यज्ञ में आहुति किया गया; दत्तम्—प्रदत्त; तपः—तपस्या; तप्तम्—सम्पन्न; कृतम्—किया गया; च—भी; यत्—जो; असत्—झूठा; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहा जाता है; पार्थ—हे पृथापुत्र; न—कभी नहीं; च—भी; तत्—वह; प्रेत्य—मर कर; न उ—न तो; इह—इस जीवन में।

हे पार्थ! श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान या तप के रूप में जो भी किया जाता है, वह नश्वर है। वह 'असत्' कहलाता है और इस जन्म तथा अगले जन्म—दोनों में ही व्यर्थ जाता है।

तात्पर्य

चाहे यज्ञ हो, दान हो या तप हो, बिना आध्यात्मिक लक्ष्य के व्यर्थ रहता है। अतएव इस श्लोक में यह घोषित किया गया है कि ऐसे कार्य कुत्सित हैं। प्रत्येक कार्य कृष्णभावनामृत में रहकर ब्रह्म के लिए किया जाना चाहिए। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में भगवान् में श्रद्धा की संस्तुति की गई है। ऐसी श्रद्धा तथा समुचित मार्गदर्शन के बिना कोई फल नहीं मिल सकता। समस्त वैदिक आदेशों के पालन का चरम लक्ष्य कृष्ण को जानना है। इस सिद्धान्त का पालन किये बिना कोई सफल नहीं हो सकता। इसीलिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग यही है कि मनुष्य प्रारम्भ से ही किसी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन में कृष्णभावनामृत में कार्य करे। सब प्रकार से सफल होने का यही मार्ग है।

बद्ध अवस्था में लोग देवताओं, भूतों या कुबेर जैसे यक्षों की पूजा के प्रति आकृष्ट होते हैं। यद्यपि सतोगुण रजोगुण तथा तमोगुण से श्रेष्ठ है, लेकिन जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को ग्रहण करता है, वह प्रकृति के इन तीनों गुणों को पार कर जाता है। यद्यपि क्रमिक उन्नति की विधि है, किन्तु शुद्ध भक्तों की संगति से यदि कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, तो यह सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। इस अध्याय में इसी की संस्तुति की गई है। इस प्रकार से सफलता पाने के लिए उपयुक्त गुरु प्राप्त करके उसके निर्देशन में प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए। तभी ब्रह्म में श्रद्धा हो सकती है। जब कालक्रम से यह श्रद्धा परिपक्व होती है, तो इसे ईश्वरप्रेम कहते हैं। यही प्रेम समस्त जीवों का चरम लक्ष्य है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करे। इस सत्रहवें अध्याय का यही संदेश है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय “श्रद्धा के विभाग” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।